पारस

❑ रेणु गावस्कर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बाल साहित्य बच्चों के साहित्य को ही नहीं अपितु समूचे साहित्य जगत को मिला यह अपूर्व योगदान है। हालांकि उनके साहित्य का मूल बंगाली से अनुवाद हो चुका है, फिर भी, यह कविता मूल बंगाली में उद्धृत कर रही हूं -

मेघेर कोले रोद हेशे छे
बादल गैछे छुट्टी
आज आमादेर छूटी ओ भाई आज आमादेर छूटी
(मेघों की गोद बैठे धूप हंसती है
बादल बिखरे पड़े हैं
आज हमारी छुट्टी है भई आज हमारी छुट्टी)
की कोरी आज थेबे न पाई
पोथ हारिए कोनो बनजाई
कोनो माठे जे छूटे बेडाई ... आज आमादेर छूटी
(क्या करें समझ ना आए
रास्ता भुलाकर किस वन पहुंच जाएं
सारी बाल सेना छूटकर किस बाग जाएं
आज हमारी छुट्टी...)
केया पाताय नौका गोडे
शाजिए देबो फूले
ताल छीघिते भाषिए देबो
चोलबे दूले दूले ... आज आमादेर छूटी
(केले के पान की नौका बनाएं
फूलों से उसे सजाएं
तालाब में उसे छोडकर देखें
कैसे चले शान से हौले-हौले
आज हमारी छुट्टी है भाई...)
राखाल छेलेर शांगे धेनू
चराबो आज बानिए बेनू
माखबो गाये फूलेररेणू
चापार बन लूटी ... आज आमादेर छूटी ...
(चरवाहे के छोरे संग आज जाए
वेणू के वन में गाय चराएं
फूलों के रेणुओं से शरीर रंग जाए
मानो चंपा का वन लूट लिया आज हमारी छुट्टी ...)

बच्चों की छुट्टी होने के कारण मेघों की गोद में बैठ धूप के हंसने की कल्पना कितनी मोहक है। मेरा अनुभव है कि बच्चों को

ये सारी कल्पनाएं मजेदार लगती हैं। वे आपके संग गाना गाने में तन्मय हो जाते हैं, उन्हें भी नई-नई कल्पनाएं सूझने लगती हैं।

अब रवीन्द्रनाथ की इस 'कोनिका' यानी कणिका को ही देखें।

कणिका का शीर्षक है - कुटुंबिता यानी आत्मीयता।

केरोसीन शीखा बोले माटभर प्रदीपे

भाई बोले डाको जोदि

देबो गोला टीपे

हे न काले गगने ते उठीले न चांद

केरोसिन बोली उठे एषो मोर दादा !

केरोसिन के दिए ने मिट्टी के दिए को धमकी दे दी कि अगर तुम दादा कहकर बुलाओगे तो तुम्हारा गला घोंट दिया जाएगा। परंतु जैसे ही काले गगन में चांद उठा देखा केरोसिन का दिया खडी आवाज में बोल उठा, तुम ही हो आओ मेरे दादा।

ऐसी अनेक आसान और जीवन से जुडी कणिकाएं बच्चे आसानी से आत्मसात करते हैं। ऐसे में पाठांतर के लिए उनके पीछे नहीं लगना पड़ता, उल्टा 'बालभवन' के बच्चे लगातार अधिकाधिक कणिकाओं की मांग करते ही रहते हैं।

रवीन्द्रनाथ का साहित्य ही नहीं बल्कि उनका चरित्र, उनकी जीवनदृष्टि बच्चों के लिए साहित्य सृजन की प्रेरणा बन सकती है। रवीन्द्रनाथ के बेटे रतीन्द्र नाथ ने अपने पिता की एक आदत को याद के स्वरूप में संजोया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ कभी भी अपने लेखन में सटीक न बैठने वाले शब्द को काटते नहीं थे। वे उससे फूल बना देते थे। बच्चों के बीच मैंने यह बात रखी तो उन्होंने उसे बड़े ध्यान से सुना, उसे मन में सींचा और फिर मैंने पाया कि उन्होंने शब्द काटकर अपनी कॉपी को कुरूप करना छोड़ दिया बल्कि अब उन काटे हुए शब्दों पर, अंकों पर फूल बनने लगे। बच्चों की कॉपियां फूलों, रंगों से सजने लगीं। साहित्य का इतना सजीला प्रयोग किसी और ने किया होगा ?

रवीन्द्रनाथ के साहित्य के संबंध में निबंध में जो लिखा गया है उसे उद्धृत किए बगैर इस लेख की शुरूआत हो ही नहीं सकती। पंतोजी की तरह समझाना जैसे रवीन्द्रनाथ को आता ही नहीं। युक्तिवाद के बजाय वे उपमाओं का इस्तेमाल करते हैं और तत्वों के लिए कल्पना चित्रण शक्ति का प्रयोग करते हैं। पाठक की ज्ञानेंद्रियां जागृत कर उनके अंत:करण की नमी को स्पर्श करना उनकी खासियत है। रवीन्द्रनाथ के दोष भी बच्चों की तरह निष्कपट हैं। उसमें कोई बखान नहीं है और न ही खुद को छुपाने या बचाने की कोई कोशिश है। घर के आंगन में कोई सहजता से खेले वैसी ही उनकी साहित्य निर्मिति है। उनके दोष बहुत आसानी से देखे जा सकते हैं पर उनके बिना साहित्य का जायजा पूरा नहीं हो सकता। ऐसा लेखक यानी रवीन्द्रनाथ ! उनके साहित्य की एक प्रदक्षिणा करें तो महसूस होता है कि गर्भित अर्थों में उनके साहित्य में काव्यानुभूति प्रमुखता से है और इसी कारण वे प्रथम और अंतत: कवि ही हैं। इसी स्त्रोत से, इसी प्रेरणा से उनके साहित्य के प्रवाह (निबंध, नाटक और कथा) प्रवाहित हुए हैं। जिस मौखिक संमिश्रण से रवीन्द्रनाथ आक्वरित होते हैं वह है उनकी काव्यशक्ति। इसीलिए रवीन्द्रनाथ का यह कथन हमेशा गूंजता है 'बंगाल में लोगों को मेरे गीत गाने ही होंगे। बाकी कुछ साहित्य न रहे तो भी मेरे गीत तो रहेंगे ही।'

रवीन्द्रनाथ ने बच्चों के लिए असंख्य कहानियां लिखीं। कथाएं बाल साहित्य का ही नहीं बल्कि बड़ों की जीवन प्रक्रिया का प्राण है ऐसी उनकी मान्यता थी। इन कथाओं का उद्गम भारत वर्ष के गांव-देहातों में हुआ। वहां से पीढ़ी दर पीढ़ी ये कथाएं आगे बढ़ीं ऐसा उन्हें लगता था। कथाओं के जन्म के संबंध में उनका यह कथन देखिए -

''पहले विद्या विद्वानों की संपत्ति नहीं थी। उस पर पूरे समाज का मालिकाना हक था। अखबारों के पन्नों की सरसराहट जहां सुनी भी नहीं जा सकती थी ऐसे एक गांव में आने का न्यौता मुझे वहां के किसानों ने दिया। उस गांव के बहुसंख्य लोग मुसलमान थे। मेरे स्वागत के लिए लोगों ने गानों का फड बनाया था। चांदनी रात में मिट्टी का दिया लटकाया गया। जमीन पर सामने छोटे-बड़े, बूढ़े-जवान स्तब्ध बैठे थे। गानों के फंड का प्रमुख हिस्सा था गुरू-शिष्य संवाद! उसमें देहतत्व, सृष्टितत्व, मुक्ति तत्व सभी चीजें समाविष्ट थीं। बीच-बीच में गीत, नृत्य तथा विनोद आदि की झंकार भी थी। उन गानों का एक ढारू का हिस्सा अभी भी मुझे ध्यान में है। गाने का विषय था, एक यात्री जो वृंदावन की सीमा पर आकर गांव में प्रवेश करना चाह रहा है ! पहरेदार ने उसका रास्ता रोकते हुए कहा, 'तुम चोर हो। मैं तुम्हें अन्दर नहीं जाने दूंगा।' इस पर प्रवासी बोला 'तुम किस आधार पर मुझे चोर कह रहे हो ? तुमने मेरे पास कोई चोरी का माल देखा है ?' पहरेदार ने फर्माया, 'यह क्या, तुमने उसे अपने कपड़ों के अंदर छुपा जो रखा है ! यह जो तुम्हारा 'अहम्' है उस पर हमारे राजा का सोलह आना हक है। तुम उसे फंसाकर अपने जिस्म में रखे हुए हो।'

सारे श्रोता घंटों निस्तब्ध होकर सारी बातें सुन रहे थे। सारी बातें उन्हें समझ आई हों ऐसा तो नहीं, मगर उनकी दैनंदिन नीरस जीवन की तुच्छता खंडित होकर चिरंतन की तरफ ले जाने वाला

मार्ग कहीं न कहीं जरूर खुल रहा था। इसमें किसी उपदेश की अवश्यकता बनाना बच्चों को थी, न उन अशिक्षित देहातियों को। मुक्तिगामी विचार फिर भी पनप रहा था। और कलात्मक रूप में पेश हो रहा था। हमारे देश में बहुत पहले से ही यह स्वेच्छा की शिक्षा चल रही थी। उसके पीछे कोई कानून नहीं था। तगादा नहीं था। पूरे देह में जिस तरह खून का संचार होता रहता है वैसे ही यह संचार भी चल रहा था। गांव देहात के पीने के पानी के स्रोत सूखने लगे हैं परंतु शहरों में घर-घर में पानी के नल बहने लगे हैं। आज हम जिसे 'एज्युकेशन' कहते हैं उसका प्रारंभ गांवों में हुआ। उसके आधार से उद्योग, धंधे, नौकरी-चाकरियां पनपने लगीं। यह विदेशी शिक्षा पद्धति यानी मानो रेलगाड़ी के डिब्बों के दिए हैं। डिब्बों में तो रोशनी की अच्छी जगमगाहट पर गाड़ी जिस मार्ग पर मीलों मील दौड़ती है वह सारा प्रदेश अंधकार में डूबा पड़ा है।

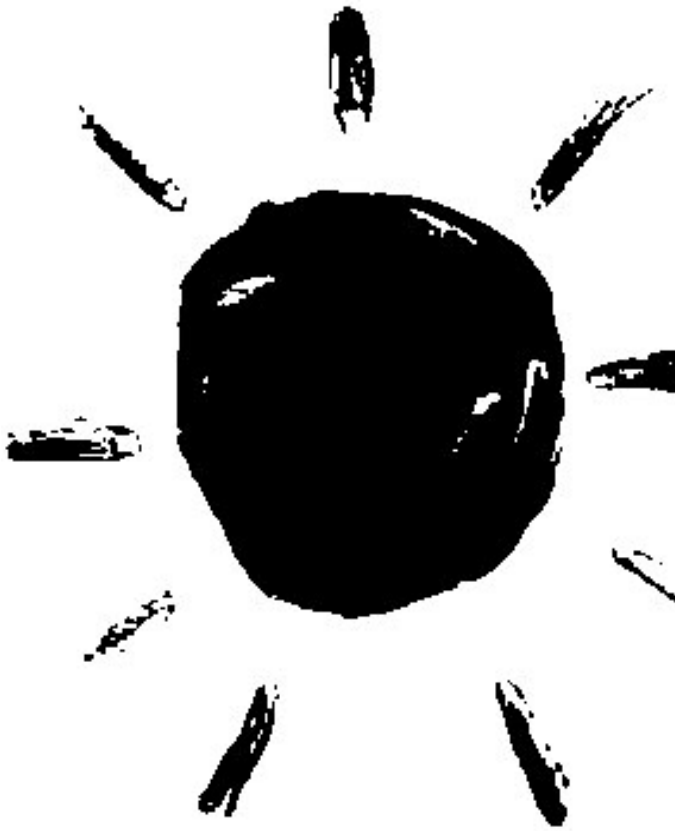

संध्या समय दिन भर का काम निपटाकर मजदूर किसान घर आते हैं। विस्तीर्ण मैदान पर फैला अंधकार और दूसरी तरफ उनके गांव ! हड्डियों को चूर कर देने वाले श्रम के बाद भी आदमी का मन बचता है, वहां खड़े होकर वह सहे हुए सारे अपमानों को अगर भुला सके, दुर्दैवपूर्ण चरम गुलामगिरी को थोड़ा-सा सरकाकर छुटकारे की सुकूनभरी सांस का पल भर ही सही अनुभव इन लोगों को प्राप्त नहीं हुआ तो ये लोग कैसे बचेंगे ? मन की इस भूख को पूरा करने के लिए मदद का हाथ किसी ने दिया नहीं। इन लोगों का सगा-संबंधी जैसे कोई बचा ही नहीं। ऐसे में कहानियों, गानों और नाटकों के माध्यम से बच्चों के मन में जीवनेच्छा को बचाने का काम मुक्तिगामी यात्रा का पहला चरण है।''

रवीन्द्रनाथ कहते थे, छोटा बच्चा कितनी खुशी से बोलना सीखता है। माता-पिता के मुंह से निकले बोलों में भाषा का समग्र रूप वह देख पाता है। जिस उम्र में समझ भी पूरी विकसित नहीं हो पाती, भाषा के इस रूप से वह आकर्षित होता है, इसी कारण यह संभव हो पाता है। आत्म प्रकटीकरण में पूर्णत्व को प्राप्त करने की उसकी निरंतर कोशिश रहती है। यह भाषा समग्र रूप में बच्चे के मन को आलिंगनबद्ध न कर पाती तो उसकी इतनी प्रगति न हो पाती। इसीलिए देश को किसी ध्येय की सच्ची दिशा अगर हमें देनी हो तो उस ध्येय की समग्र मूर्ति कैसी होगी, इसका समग्र चित्र लोगों के मानस पटल पर खड़ा करने का यत्न करना चाहिए। एकदम थोड़े से अवकाश में ही मूर्ति लंबा-चौड़ा आकार प्राप्त करे ऐसा नहीं। परंतु हम जो मूर्ति साकार करें वह पूर्ण हो, सत्य हो। स्वदेश के संबंध में हमारी जिम्मेदारी है। उसे समग्रता से ग्रहण करने की तपस्या में छोटे-छोटे आकार में अलग-अलग स्थलों पर शुरू करना अत्यंत आवश्यक है। परस्पर से घनिष्ठता पूर्वक जुड़ी हुई चीजों का समन्वय सर्वसाधारण कल्याण में हो। स्वास्थ्य, ज्ञानोपासना, कर्म, आनंद इन सभी का कल्याण से समन्वय हम एकरूपता से कर पाएं तो ही हम ऐसा कह सकते हैं कि हमने मनुष्य कल्याण की संकल्पना को साकार किया। हमारे मन के समक्ष हमारे देश का ऐसा पूर्ण कल्याणयुक्त चित्र होना चाहिए। ऐसा चित्र मनचक्षु के समक्ष रखने से जितना काम होगा उतना हजारों उपदेश एवं व्याख्यान सुनकर भी यह नहीं होगा। जगह-जगह पर लोगों ने लोककल्याण के विविध काम पूर्ण करने की जिम्मेदारी कैसे उठाई और उन अनेक विध कार्यों का सामुदायिक परिपाक होकर समाज किस तरह ज्ञानसंपन्न, स्वास्थ्य संपन्न और वैभवशाली

बना इसका जीता जागता चित्र लोगों की नजरों के समक्ष प्रस्तुत करने की जरूरत है। जो चीज संपूर्ण भारत में फैले, हमें लगता है वही देश के किसी छोटे से भाग छोटे स्तर पर प्रत्यक्ष घटती हुई हम देख पाएं तो उससे होने वाली फल प्राप्ति की कल्पना हमारे लिए स्पष्ट होगी। हमारे देश की निर्मिति और रक्षा करते हुए उनके परस्पर संबंध घनिष्ठ हो सकते हैं। और इस निर्मिति कार्य के माध्यम से ही उनके मन में स्वदेश के लिए प्राणांतिक प्रेम निर्माण हो सकता है । हम इस देश में जन्मे परंतु इस देश का निर्माण हम करवाकर नहीं ले सकते। लोगों को एकत्रित रूप से सम्मिलित होने के लिए जो कारण आवश्यक है वह उन्हें नहीं मिलता देश की हानि हुई उसका अनिष्ट हुआ तो मेरी ही हानि हुई यह भाव उनके मन में नहीं जागता। अपने देश के खुद ही रचयिता बनें और उसी प्रक्रिया द्वारा उसे प्राप्त करें, ऐसी साधना के मार्ग पर लोगों को प्रवृत्त करें। उस तरह अनेक विध मार्गों से एक ही देश निर्मिती के काम की शुरूआत हम हमारे आस-पड़ौस से करें और क्रमबद्ध ढंग में उसका दूर तक प्रसार करें। इस तरह आरंभ किया गया उद्योग कितना भी छोटा हो पर क्षुद्र नहीं होता।

इस पूरी प्रक्रिया में आत्म प्रकटीकरण के संबंध में पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए प्रयासरत बच्चा ये खुद रवीन्द्रनाथ ही नहीं थे क्या ? - क्या यही दृष्टि उनके साहित्य और बाल साहित्य में देखने को नहीं मिलती ?

शांतिनिकेतन में बतौर शिक्षक वास्तव्य के दौरान गुरूदेव ने असंख्य नाटक लिखे। उसमें गड़बड़ करने वाले बच्चों के लिए रातों में जाग जागकर उन्होंने अनेक नृत्य नाटिकाएं लिखीं। उसमें क्लास के सारे बच्चों को भूमिकाएं तो मिलती ही थीं पर खुद गुरूदेव एक खास निर्धारित भूमिका निभाते थे। रवीन्द्रनाथ को वैविध्य से खासी दीवानगी थी। किसी भी चीज को उन्होंने अंतिम नहीं माना। उनकी कल्पना की उड़ानों को ऐसे बंधन मंजूर ही नहीं थे। परिवर्तन की उर्मी उनके मन में विद्रोह कर उठती थी। परंतु उन उर्मियों को केवल पुरानी चीजों को नष्ट नहीं करना था। उनका यह गदर विध्वंस के लिए नहीं बल्कि नए सृजन के लिए था। उस प्रक्रिया से ही निकल आती है उनकी कहानी 'इच्छारानी' जो सुबल व सुशील इन पिता-पुत्रों की जोड़ी पर बुनी गई हैं। सुबल इस नाम को कतई सार्थक न कर पाने वाले पिता व सुशील इस नाम को भेदने वाले बेटे की शरारतें, इनकी यह कहानी है। पिता चाहते हैं बचपन का वह नटखट, अल्हड़पन तो बेटे की मन्शा थी वह एक ही रात में बड़ा बन जाए। 'इच्छारानी' तथास्तु कहते हुए इनकी ख्वाहिशें पूरी कर देती है। परंतु मांगकर लिया बचपन निभाते हुए सुबल और चाहा हुआ बड़प्पन निभाते हुए सुशील की धांधली मच जाती है। प्राप्त परिस्थिति में खुश न रहने की मानवीय खासियत को रवीन्द्रनाथ कितनी रंगतदार बना कर पेश करते हैं। रवीन्द्रनाथ की कथा कहानियां देश काल मर्यादा के बंधन बांधकर बच्चों को बड़ों की और बड़ों को बच्चों की दुनिया में ले जाते हुए वैश्विक सत्य का दर्शन कराती हैं।

इन सभी के बीच गुरूदेव को अंतर्यामी वेदना यह रही थी कि बच्चों की तरफ अक्षम्य उपेक्षा हो रही है। यह पीड़ा उनसे अधिक भला किसे हो सकती थी ! इस संदर्भ में उनकी बड़ी सुंदर कविता है जिसमें वो कहते हैं, एक बच्ची मिट्टी में खेलते हुए मगन हो गई, भूल गई कि उसका चेहरा, कपड़े, धूल-मिट्टी से भर गए हैं। खेल के आनंद के आगे इस सबका उसे ध्यान ही नहीं रहा। खेलते-खेलते उसे कुछ मिलता है। हाथ लगे उस खजाने को वह अत्यानन्द से आंखें फाड़कर निहारती रहती है। क्या है वह अनमोल चीज, जो उसकी मुट्ठी में बंद है। वह है एक पक्षी के पर का फर - सफेद झक्क, उस के किनारे पर काली झालर और बीचों-बीच दृढ़ काला-सा देठ। कितना मनोहर, आकर्षक था वह फर जो उसके छोटे मटमैले हाथों में विराजमान था! भागती दौड़ती वह अपनी मां के सामने अपना अनमोल खजाना खोल देती है और फर को मां के सामने पेश करती है। वह बारी-बारी मां को और फर को देखती है। उसके मन में यत्किंचित भी शंका नहीं कि फर को देख उसकी मां उसी हर्ष उल्लास से खिल उठेगी, जिसने उसके मन को भर दिया है - 'ओ मां देख ! कि एनेछि देख चेये'। पर लड़की का अंदाज लड़खड़ा जाता है। उस हर्षोल्लास का कणमात्र भी उस फर को देख मां तक नहीं पहुंचता। फर को धूल में फेंककर मां तुर्रे से उठते हुए कहती है, 'पगली कहीं की ! ले-देकर क्या लाई दिखने, ये फर। क्या कहें इस लड़की के अनगढ़पन को !' वह घर के अन्दर चली जाती है। धूल में पड़ा फर लड़की उठाती है, झटकती है, पोंछती है और अपने पास संभालकर रखती है। उसकी आंखों से दो अश्रु छलकते हैं, उसके मटमैले गालों पर। उसके बाद कितनी बार वह उस फर से खेली होगी, पर कभी जिंदगी में उसने किसी बड़े को उसे नहीं दिखाया।

बाल साहित्य उस फर की तरह ही है जिसका आनंद और जिसकी चाह बच्चे अपने मन में बंद कर रखते हैं। उसकी कद्र न करने वाले बड़ों को उसकी झलक भी नहीं दिखलाते। अब बड़ों को सोचना है कि पहला कदम कहां और कैसे बढ़ाएं ताकि बच्चों के मन का रास्ता उनके लिए खुल जाए। ◆

मराठी से अनुवाद - प्रज्ञा जोशी